सांस्कृतिक औदात्य का अर्थ एवं स्वरूप एक विवेचना

Km. Archana Aggarwal[1] Dr. Ishwar Singh[2]

[1]Research Scholar, CMJ University, Shillong, Meghalaya

[2]Rtd. Associate Professor, Govt. P.G. College, Narnaul

---------------------------♦----------------------------

पस्तावना

कबीर का जिस युग में आगमन हुआ उस समय समाज में धर्म के नाम पर ढकोसले बाजी व बाह्याडम्बर हो रहे थे तथा अनेक सम्प्रदाय (सिद्ध व नाथ) आदि स्थापित हो चुके थे, वर्ण व्यवस्था भी अपने पैर फैला चुकी थी । मौलवी और ब्राह्मण अपने आप को धर्म के ठेकेदार मानते थे । जब कबीर ने देखा कि भगवान की पूजा–अर्चना के लिए भी जनता में वास्तविक श्रद्धा न होकर बाह्याडम्बर भरे हुए हैं तो वह सहन न कर सके और उनकी वाणी चित्कार उठी । उन्होंने समाज में धर्म के नाम पर फैली कुरतियों को समाप्त करके वर्ण–व्यवस्था व जाति पाति का भेद दूर कर, सबको एक करना चाहा ।

परिचय

मानव समस्त प्राणियों में सवश्रेष्ठ प्राणी है उसकी श्रेष्ठता का प्रमुख आधार उसका सुसंस्कृत होना है । यह संस्कृति ही है जो उसे अन्य प्राणियों या पशुओं से अलग करती है । मनुष्य ही एक ऐसा प्राणी है जो संस्कृति का निर्माता संरक्षक और अपनाने वाला होता है । व्यक्ति को अपने वंशानुक्रम से जैवकीय विरासत के रूप में शारीरिक और मानसिक आदि गुण मिलते हैं । किन्तु शारीरिक और मानसिक गुणों मात्र से ही वह एक उत्तम सामाजिक प्राणी नहीं बन सकता । इसके लिए उसमें समाज द्वारा मान्यता प्राप्त गुण होने चाहिए ।

सांस्कृतिक औदात्य का अर्थ एवं स्वरूप

'कल्वर' शब्द लैटिन भाषा के शब्द 'कल्चयूरा' (बनसजनतं) से निकला है जिसका अर्थ है पोषण करना (ज्व बनसजपअंजम) अतः कल्चर शब्द से अभिप्राय है कि 'कल्चर' को पोषित किया जाता है और स्वयं पनप सकती है ।

साधारण अर्थ

साधारण अर्थ में 'संस्कृति' शब्द संस्कार का रूपान्तर है । एक व्यक्ति को सुसंस्कृत कहलाये जाने योग्य बनने के लिए अपने समज के अनेक संस्कारों का मानना अथवा करना पड़ता है ।

साहित्यिक परिचय

साहित्यिक अर्थ में संस्कृति जीवन का प्रकाश और कोमलता है । इतिहासकारों ने देश या समाज के बौधिक एवं कलात्मक विकास को ही संस्कृति माना है ।

नैतिक अर्थ

नैतिक दृष्टिकोण वाले विद्वान् 'संस्कृति' शब्द का अर्थ नैतिक, आध्यात्मिक तथा बौधिक विकास के रूप में करते हैं ।

समाजशास्त्रीय अर्थ

समाजशास्त्रियों और मानवशस्त्रियों ने 'संस्कृति' को मानव द्वारा निर्मित वह संपूर्ण वातावरण माना है जिसमें कि वह रहता हे, सोचता –विचारता है, कार्य करता है, अपनी समस्त प्रकार की आवश्यकताओं की पूर्ति करता है और गुणों, आदतों, प्रथाओं, परंपराओं आदि को सीखता है । संक्षेप में इन के अनुसार संपूर्ण सामाजिक विरासत ही संस्कृति है ।

संस्कृति के सम्बन्ध में विद्वानों के मत :

1. मैथ्यू आर्नल्ड के मतानुसार –

'सर्वोत्तम विचार एवं ज्ञान संस्कृति है ।' वह संस्कृति में जीवन विधियाँ, आदतें, व्यवहार, वाणी का स्वर, साहित्य, समुदाय को आनन्द देने वाली वस्तुएं, शब्द, विचार आदि समिमलित करते हैं । व्यापक दृष्टिकोण से मैथ्यू आर्नल्ड संस्कृति को माधुर्य और प्रकाश मानते हैं ।[1]

2. ओटेवे के अनुसार –

'समाज की संस्कृति का अर्थ है– समाज की संपूर्ण जीवन विधि' ।[2]

3. ई॰ बी॰ टायलर –

श्री टायलर ने अपनी प्रसिद्ध पुस्तक 'प्रिमिटिव कल्चर' में लिखा है,

संस्कृति वह जटिल सम्र समग्रता है जिसमें ज्ञान, विश्वास, कला, नैतिक, आदर्श, नियम, प्रथाएं और समाज के सदस्य के रूप में अर्जित कोई भी अन्य क्षमताओं और आदतों का समावेश रहता है ।'[3]

4. एफ॰ जे॰ ब्राउन –

संस्कृति किसी समुदाय के सम्पूर्ण व्यवहार का एक ढांचा है जो अंशतः भौतिक वातावरण से अनुकूलित होता है । यह वातावरण प्राकृतिक एवं मानव निर्मित दोनों प्रकार का हो सकता है । किन्तु प्रमुख रूप से यह ढांचा सुनिश्चित विचारधाराओं प्रवृत्तियों, मूल्यों तथा आदतों द्वारा अनुकूलित होता है जिनका विकास समूह द्वारा अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए किया जाता है ।'[4]

5. मैकाइवर एवं पेज –

'संस्कृति शैलियों, मूल्यों, भावात्मक सम्बन्धों, बौद्धिक कारनामों का प्रतीक है । इस प्रकार संस्कृति, सभ्यता के विपरित है । यह हमारे रहने तथा सोचने के तरीकों में, दैनिक व्यवहार में, काव्य में, साहित्य में, धर्म में मनोरजंन तथा आमोद–प्रमोद में हमारी संस्कृति की अभिव्यक्ति है 6. एलवुड के अनुसार

'संस्कृति में एक ओर मनुष्य की सम्पूर्ण भौतिक सभ्यता, औजार, शस्त्र, औद्योगिक विधि सम्मिलित होती है और दूसरी ओर अभौतिक अथवा आध्यात्मिक सभ्यता जैसे भाषा, साहित्य, कला, धर्म, नैतिकता, नियम एवं सरकार शामिल होती है ।'[5] यह संस्कृति की व्यापक परिभाषा है ।

7. संस्कृति सीखे हुए व्यवहारों के परिणाम का वह समग्र रूप है जिसके निर्माणकारी तत्त्व किसी विशिष्ट समाज के सदस्यों द्वारा प्रयुक्त तथा संचारित होते हैं ।'[6]

8. जोसेफ रोसेक का विचार

'संस्कृति की परिभाषा साधारणतः इस प्रकार की जा सकती है किसी विशेष समय और स्थान में निवास करने वाले विशेष व्यक्तियों के जीवन व्यतीत करने की सामूहिक विधि ।'[7]

इस प्रकार संस्कृति में वह सब कुछ सम्मलित है जिसे मनुष्य ने अपने व्यक्तिगत एवं सामाजिक जीवन के मानसिक एवं बौद्धिक क्षेत्र में प्राप्त किया है । दार्शनिक वे सभी तत्त्व सम्मलित हैं जिनकी प्रकृति अभौतिक है । कबीर के काव्य में धार्मिक औदात्य के विषय में जानने से पहले हमारे लिए यह आवश्यक हो जाता है कि धर्म शब्द की व्युत्पत्ति कैसे हुई है ।

धर्म की व्युत्पत्ति

धर्म शब्द व्याकरण की रीति से घृ×् धारणे 'धतु से अर्तिस्तु–सुहुसृधृभिक्षु माया वापदियाक्षिनीभ्यो मन्' इस पाणिनि व्याकरण के उणादि सूत्र से 'मन्' प्रत्यय लगने पर होता है । विद्वानों ने इसी धात्वर्थ को लक्ष्य में रखकर इसकी व्युत्पत्ति की है :–

(अ) ध्रियते लोकः अनेन इति धर्मः– जिससे लोक धारण किया जाए वह धर्म है ।

(आ) धरति धारयति वा लोकम् इति धर्मः– जो लोक का धारण करे वह धर्म है ।

(इ) ध्रियते यः स धर्मः– जो दूसरों से धारण किया जाए वह धर्म है ।

महाभारत में धर्म शब्द के व्युत्पत्तिगत दे‍ा अर्थ बताए गए हैं । पहला है 'धन' पूर्वक 'ऋ' धातु में 'मक्' प्रत्यय के योग से 'धर्म' शब्द बनता है। जिसका अर्थ है– 'जिसके द्वारा धन की प्राप्ति हो । 'धन' शब्द से पार्थिव अपार्थिव हर प्रकार के धन को समझना चाहिए । दूसरी तरह से धारणार्थक 'धृ×य्' धातु के साथ 'मन्' प्रत्यय का योग करने पर धर्म शब्द बनता है । इसका अर्थ है– जो सबको धारण करे, अर्थात् लोकस्थिति जिस पर निर्भर हो। उपर्युक्त दोनों अर्थों में से हम कोई भी ले सकते हैं । सारांश में हम कह सकते हैं कि व्यष्टि एवं समष्टि रूप से लोकस्थिति विधृत हो अर्थात् जिसको केन्द्र मानकर प्रत्येक का जीवन चलता हो अर्थात् जो वस्तु अर्थ काम आदि की प्राप्ति से सहायक हो उसे धर्म कहते हैं ।

साहित्य सामग्री व विधियां

धर्म का मूल अत्यन्त पुरातन है जो वेदों से माना गया है । गौतम धर्मसूत्र में वेद को धर्म का मूल माना है ।[8] श्री मद्भागवत में भी धर्म का आधार वेद ही स्वीकार किया गया है ।[9] भारतीय संस्कृति के मूल स्रोत वेदों के अन्तर्गत 'धर्म' शब्द का प्रथम प्रयोग 'ऋग्वेद' में हुआ है –

त्रीणि पदा वि चक्रमे विष्णुर्गोया अदाभ्यः ।

अतो धर्माणि धारयन् ।।[10]

उपनिषदों में धर्म का विशेष महत्त्व रहा है । तैत्तिरीयोपनिषद् के एकादश अनुवाद के मन्त्र धर्म की सम्यक् व्यवस्था के लिए प्रसिद्ध है । कठोपनिषद् में धर्म शब्द का प्रयोग 'कर्तृत्व' के अर्थ में हुआ है यथा 'धर्म्यमणुमेतमाप्य',[11] 'धर्मादन्यत्राधर्मादन्यत्र' ।[12]

धर्म सूत्र में धर्म को वेदों में प्रयुक्त विधि निषेद के अनुसार ही चलना धर्म माना है । धर्म का संबंध उन क्रिया संस्कारों से जोड़ा गया है जो वेदों द्वारा प्रेरित और प्रशंसित है ।[13] समृति ग्रन्थों में धर्म के लिए मनु ने चारों वर्णों के विषय में समान धर्म का निर्धारण करते हुए अहिंसा, सत्य, अस्तेय, शुद्धता और इन्द्रिय–निग्रह को समाविष्ट किया है ।[14] बाल्मीकि रामायण में धर्म को ही सार माना है । 'धर्म से ही अर्थ प्राप्त होता है, धर्म से ही सुख का उदय होता है, और धर्म से ही मनुष्य सब कुछ प्राप्त कर लेता है।"[15]

महाभारत में धर्म के विषय में कहा गया है कि जीवन की विशालता और जटिलता में धर्म का वास्तविक रूप जान पाना अत्यन्त दुष्कर है । धर्म का एक सामान्य रूप है, उसके कुछ सामान्य लक्षण है जो सबके लिए मान्य हैं । कृष्ण ने धर्म के लक्षणों में अहिंसा, सोच, क्रोध का अभाव, क्रूरता का अभाव दम और शम एवं सरलता को समाविष्ट किया ।[16]

इस प्रकार से हम कह कसते हैं कि धर्म का क्रमिक विकास अत्यन्त प्राचीन है इसमें भी समयानुसार परिवर्तन हो रहा है ।

धर्म के सम्बन्ध में कुछ परिभाषाऐं अग्रलिखित हैं –

कबीर की त्रिपक्षीय साधना का दूसरा पक्ष मन का संयम है । यह कबीर की विशिष्टता ही है कि इन्होंने मनुष्य को गुमराह न करके सीधा मार्ग बताया है जिससे वह अपनी मंजिल को जल्द प्राप्त कर सके । क्योंकि यदि मनुष्य को साधना का मार्ग पता नहीं होगा तो वह भटक सकता है और भूलावे में आकर सच्चा साधक भी मंजिल तक पहुंच सकने में अत्यधिक कठिनता महसूस कर राहगीर ही रह जाएगा । इसीलिए कबीर ने कहा है कि साधना मार्ग पर प्रवृत्त होने से पूर्व आवश्यक है कि साधक अपने मन को संयमित करे उसे वश में करे, उसे विषय वासनाओं से विरक्त करे । तभी वह काम, क्रोध, लोभ मोह इत्यादि दुर्वासनाओं से मुक्त हो सकता है । इन्द्रियों का स्वामी मन है इसलिए जितेन्द्रिय और सच्चा योगी बनने के लिए मन पर अंकुश आवश्यक है । कबीर ने मन को वश में करने पर अत्याधिक बल दिया है ये कहते हैं कि उसके (मन) निर्देशित मार्ग पर न चलकर उसे अपने अधीन करना चाहिए ।

कबीर ने गंगा स्नान और तीर्थाटन को व्यर्थ बताकर भगवद्–भक्ति और साधु–संगति पर बल दिया है :–

"मार्ग जावै द्वारिका भावै जावै जगन्नाथ ।

साधु संगति हरि भगति बिन कछु न आवै हाथ ।।"[17]

कबीर ने पक्षपात रहित हो जहाँ भी धर्म के नाम पर पाखण्ड, ढकोसला देखा वही वे अड़ गये व इन्होंने धर्म के ठेकेदारों पर निर्मम पहार किये :– हिंसा करने वाले के प्रति तीखा प्रहार :–

"खुन करै मिसकीन कहावै गुनही रहै छिपाय ।"[18]

रोजा रखनेवालों का मजाक उड़ाते हुए उन्होंने कहा है :

"नि भर रोजा रखत हैं, रात हनत हें गाय ।

यह तो खून वह बदंगी, कैसे खुशी खुदाय ।।"[19]

नमाज पढ़ने वालों की हंसी उड़ाते हुए उन्होंने लिखा है :–

"मसजिद भीतर मुल्ला पुकारे क्या साहिब तेरा बहरा है ।"[20]

पाश्चात्य लेखकों के अनुसार 'धर्म' (त्मसपहपवद) शब्द की उत्पत्ति 'त्मसपहंतम' शब्द से हुई है जिसका अर्थ है व्यक्ति को व्यक्ति से बांधना (ज्व इपदक उंद जव उंद) ।

1. बर्ट्रण्ड रस्सल के अनुसार – 'धर्म सामाजिक कृतज्ञता की भावना का स्रोत है ।'[21]

2. मैक्समूलर का विचार – धर्म असीम के ज्ञान की आत्मिक योग्यता है ।[22]

3. कलपैट्रिक के मतानुसार – धर्म विशिष्ट व्यक्तियों द्वारा निर्धारित सांस्कृतिक ढांचा है जो अप्राकृतिक सम्बन्धों पर

आधारित है ।[23]

4. भारतीय विद्वान् राधाकृष्ण के अनुसार –

सच्चा धर्म लोगों के दिलों में होता है मनुष्य द्वारा निर्मित सम्प्रदायों में नहीं होता/यह मनुष्य की आध्यात्मिक प्रकृति में विश्वास करता है । मानव आत्मा की अनिवार्य आध्यात्मिकता में विश्वास करता है ।[24]

कबीर के काव्य में धार्मिक औदात्त्य

कबीर का जिस युग में आगमन हुआ उस समय समाज में धर्म के नाम पर ढकोसले बाजी व बाह्याडम्बर हो रहे थे तथा अनेक सम्प्रदाय (सिद्ध व नाथ) आदि स्थापित हो चुके थे, वर्ण व्यवस्था भी अपने पैर फैला चुकी थी । मौलवी और ब्राह्मण अपने आप को धर्म के ठेकेदार मानते थे । जब कबीर ने देखा कि भगवान की पूजा–अर्चना के लिए भी जनता में वास्तविक श्रद्धा न होकर बाह्याडम्बर भरे हुए हैं तो वह सहन न कर सके और उनकी वाणी चित्कार उठी । उन्होंने समाज में धर्म के नाम पर फैली कुरतियों को समाप्त करके वर्ण–व्यवस्था व जाति पाति का भेद दूर कर, सबको एक करना चाहा ।

धर्म के नाम पर प्रचलित धार्मिक रूढ़ियों का जोरदार खण्डन किया मन्दिर, मस्जिद, मूर्तिपूजा, रोजा, समाज, तीर्थ स्थान आदि तमाम रूढ़ियों का कबीर ने जमकर विरोध किया यानि कि पुरोहितों और ब्राह्मणों दोनों को ही नहीं बख्सा । कबीर ने सबको समान भाव से देखा हैं और समानता को लाने की चेष्टा की है ।

अपने युगीन समाज में प्रचलित विभिन्न धार्मिक कर्मकाण्डों एवं बाह्य विधानों पर कबीर की मर्मभेदी दृष्टि पड़ी । हिन्दू और इस्लाम दोनों ही धर्म रूढ़िग्रस्त हो चुके थे इसलिए पक्षपात रहित होकर कबीर ने दोनों के असत्य पक्ष का खण्डन किया । हिन्दू धर्म पर वे मुस्लमान बन कर प्रहार करते थे और इस्लाम धर्म पर हिन्दू बनकर क्रूर दृष्टि डालते थे । आचार्य शुक्ल ने भी लिखा है – "बहुदेवोपासना, अवतारवाद और मूर्तिपूजा का खण्डन ये मुसलमानी जोश के साथ करते थे और मुसलमानों की कुरबानी, नमाज, रोजा आदि की असारता दिखलाते हुए ब्रह्म, माया, जीव अनहद नाद, सृष्टि–प्रलय आदि की चर्चा पूरे ब्रह्म ज्ञानी बनकर करते थे ।[25]

कबीर सचमुच दो विरोधी धाराओं के मिलन–बिन्दु पर खड़े थे । एक ओर मुसलमान कहते थे कि हमारा मज़हब ही सच्चा है दूसरी हिन्दुओं की धारणा थी कि उनका धर्म ही सनातन है । ऐसे समय में सन्त कबीर के समय में धर्म का जो रूप कबीर के सामने आया वह बहुत ही विकृत था। धर्म के भीतर संकीर्णता और द्वेष ने घर कर लिया था । ऐसा धर्म का रूप जो धर्म के नाम पर एक धब्बा था । ऐसा धर्म जो समाज एवं राष्ट्र दोनों के लिए घातक हो सकता था । ऐसे में कबीर ने धर्मालोचक के रूप में वह महत्त्वपूर्ण कार्य किया जो शायद ही कोई अन्य कर सकता ।

कबीर ने धार्मिक कुरितियों, बाह्याडम्बरों का जो खण्डन किया उसका आधार साम्य भावना और लक्ष्य ईश्वर प्रेम के द्वारा मानव प्रेम का विकास था । कबीर के समय में प्रधान धर्म दो थे, एक हिन्दू और दूसरा मुसलमान। मुसलमानों का शासन उस समय उत्तर भारत में स्थापित हो चुका था, परन्तु उस समय का हिन्दू धर्म एक तो संकीर्ण हो गया था, जो इस्लाम धर्म के साथ समन्वय कर, उसे शक, हूण, यूनानियों आदि के धर्मों के समान आत्मसात न कर सकता था और दूसरे इस्लाम धर्म स्वयं धार्मिक कट्टरता और धर्म प्रचार के उद्देश्य को लेकर आया था जिससे दोनों धर्मों के बीच शान्ति और मैत्रीपूर्ण सामंजस्य की स्थापना न हो पायी । दोनों ही धर्म उस समय बाह्याडम्बर प्रधान थे और धर्म की उदार भूमि लुप्त हो चुकी थी । कबीर ने अपने समय में देखा कि पड़ोस में बसते हुए हिन्दू और मुसलमानों के बीच भेद भाव और विद्वेष को बढ़ाने वाली बातों की निन्दा एवं खण्डन आवश्यक है, क्योंकि इन बाहरी बातों को लेकर चलने वाले दोनों ही धर्मों के लोग गुमराह है । इन बातों को दूर करके ही एसे वास्तविक धर्म का विकास किया जा सकता है जिससे ईश्वर की सत्ता का आभास और पारस्परिक भ्रातृत्व और साम्य भावना की स्थापना हो, इसके बिना, तो दोनों धर्म वह कर रहे हैं, जो वास्तव में अधर्म है ।

कबीर ने वही किया जो उनकी आत्मा ने स्वीकार किया । बिना डर व भेद भाव के कबीर ने धर्म के नाम पर हो रहे ढकोसलों, बाह्याडम्बरों की आवश्यकतानुसार निन्दा की तो कहीं हिन्दू–मुसलमानों के धर्म के ठेकेदारों को फटकारा है तो कहीं उपदेश दिये हैं कहीं उपहास उड़ा कर भी उनके बाह्याचारों का खण्डन कर उन्हें सुधारने की चेष्टा की है तथा गुमराह हुए लोगों को वास्तविक राह दिखा कर एक अविस्मरणीय कार्य किया है । उन्होंने लोगों को समझाया है कि जिसकी खोज तुम बाहर करते हो वह तुम्हारे अपने मन में वास करता है ।

निराकार के उपासक व समन्वयकारी कबीर ने हिन्दुओं में प्रतिष्ठित मूर्तिपूजा एवं अवतारवाद की भावना का कड़ा विरोध किया है । उनकी दृष्टि में मन्दिर की प्रस्तर प्रतिमाओं में ईश नहीं है इसी का विरोध कर वे कहते हैं कि :–

"पाथर पूजै हरि मिले तो मैं पूंजू पहार ।

ताते तो चाकी भली पीस खाय संसार ।।"[26]

निष्कर्ष

मूर्ति पूजा में भगवान् की प्रतिमा को भोग लगाने की प्रक्रिया का भी

उन्होंने उपहास उड़ाया है और यह बात उनकी 1997 में और अधिक उभरकर सामने आई जब सब लोग 'गणेश' की प्रतिमा को दूध पिलाकर खुश हो रहे थे और अगले ही दिन वैज्ञानिकों ने निरिक्षण परिक्षण कर साबित कर दिया था कि यह दूध 'गणेश' ने नहीं बल्कि उस पत्थर ने ही पीया है जिससे वह प्रतिमा बनी हुई है और कबीर ने आत्म चिंतन कर मूर्ति पूजा व उसको भोग लगाने का खण्डन वर्षो पहले अपने युग में ही कर दिया था । उन्होंने भोग लगाने की प्रक्रिया का उपहास उड़ाते हुए कहा है कि :–

"लाडू लावर लापसी पूजा चढ़े अपार ।

पूजि पुजारा ले चला दे मूरति के मुख छार ।"[प]

सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

;कद्ध आधर–ग्रन्थ

1. पारस नाथ तिवारी, कबीर ग्रन्थवली, हिन्दी परिषद प्रयाग विश्वविद्यालय प्रयोग, प्रथम संस्करण, अक्टुबर 1961 ई॰ ।

2. पुस्पपाल सिंह, कबीर ग्रन्थावली, अशोक प्रकाशन, 2615, नई संड़क दिल्ली – 6, नवीन संस्करण – 2004 ।

3. भगवत् स्वरूप मिश्र, कबीर, ग्रन्थावली, रागेवराध्व मार्ग, आगरा – 2, चतुर्थ संस्करण, 1983 ई॰ ।

4. शान्तिस्वरूप गुप्त, सुरेश अग्रवाल, कबीर ग्रन्थावली, अशोक प्रकाशन 2615 नई सड़क, दिल्ली–6, नवीन संस्करण 2004 ।

;खद्ध सहायक–ग्रन्थ

5. अयोध्या सिंह उपाध्याय ;हरिऔध्द्ध, कबीर वचनावली, नागरी प्रचारिणी सभा काशी, संस्करण ग्यारहवां ।

6. कमलेश वोहरा, छायावादी काव्य में उदात्त तत्त्व, नेशनल पब्लिशिंग हाउफस ।

7. कबीर और जायसी अग्रमा संस्कृति, प्रकाशन संस्थान 4715/21 दयानन्द मार्ग, दरियागंज, नई दिल्ली 110002 प्रथम संस्करण 1988 ।

8. गणपति चन्द्र गुप्त, साहित्यिक निबंध, संस्करण पन्द्रहवां ।

9. गोविंद त्रिगुणायत, कबीर की विचारधरा, द्वितीय संस्करण, 1960 ।

10. जगदीश पाण्डेय, उदात्त सि(न्त और शिल्पन, अर्चना, आरा ;बिहारद्ध प्रथम संस्करण, 1974 ई॰ ।

11. देवराज, संस्कृति का दार्शनिक विवेचन, प्रकाश ब्यूरो, सूचना–विभाग, उत्तर प्रदेश, प्रथम संस्करण, 1913 ई॰ ।

12. नगेन्द्र, काव्य में उदात्त तत्व, द्वितीय संस्करण, राजपाल एंड सन्स, दिल्ली, प्रथम संस्करण, 1958 ई॰ ।

13. नगेन्द्र, काव्य बिम्ब, नेशनल पब्लिशिंग हाऊस दिल्ली, प्रथम संस्करण ।

14. नगेन्द्र, पाश्चात्य काव्य शास्त्रा की परम्परा, हिन्दी विभाग, दिल्ली विश्वविद्यालय, 1956 ई॰ ।

15. नजीर मुहम्मद, भारत प्रकाशन मन्दिर, अलीगढ़, प्रथम संस्करण, 1971 ।

16. निर्मला जैन ;अनु॰द्ध काव्य में उदात्त तत्व, प्रथम संस्करण ।

17. निर्मला जैन ;अनु॰द्ध उदात्त के विषय में, प्रथम संस्करण ।

तारक नाथ बाली, पाश्चात्य काव्य शास्त्राः सिद्धान्त और वाद, मैकमिलन कम्पनी इण्डिया लि॰, 1974 ई॰ ।

1. प्रेम सागर, उदात्त भावनाः एक विश्लेषण, राजस्थान हिन्दी ग्रन्थ अकादमी जयपुर, प्रथम संस्करण, 1973 ई॰ ।

2. संस्करण, 1970 ई॰ ।